मध्य भारती

मानविकी एवं समाजविज्ञान की द्विभाषी शोध-पत्रिका

ISSN 0974-0066
(अंक-71, जुलाई-दिसम्बर, 2016)

संरक्षक
प्रो. राघवेन्द्र पी. तिवारी
कुलपति

प्रधान सम्पादक
प्रो. अम्बिकादत्त शर्मा

सम्पादक
प्रो. निवेदिता मैत्रा
डॉ. पंकज चतुर्वेदी
डॉ. आशुतोष कुमार मिश्र

प्रबन्ध सम्पादक
डॉ. छबिल कुमार मेहेर

डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय
सागर (मध्यप्रदेश) - 470003
दूरभाष : (07582) 264455
ई-मेल : madhyabharti.2016@gmail.com

Scanned by CamScanner

योगदर्शन में चित्तप्रसादन एवं इसकी प्रासंगिकता

राम किशोर

योगदर्शन में वर्णित समस्त सिद्धान्तों एवं साधना पद्धतियों का केन्द्र बिन्दु चित्त है। योगसाधक अपने चित्त के मल को दूर करने अर्थात् उसे निर्मल करने के लिए इन साधना पद्धतियों का अभ्यास करते हैं। योग मत में चित्त के दो रूप-एक भोग प्रदान कराने वाला और दूसरा भोगों से मुक्ति दिलाने वाला माना गया हैं। यह चित्त जब मलिन अर्थात् पंचक्लेशादि से युक्त होता है तो इस भूमि वाले चित्त से संयुक्त पुरुष दुःखादि भोगों को भोगता है और जब यह चित्त पंचक्लेशों से रहित अर्थात् निर्मल हो जाता है, तो इसमें पुरुष स्वयं अपना एवं प्रकृति के यथार्थ स्वरूप का दृष्टा होकर दुःखादि भोगों से मुक्त हो जाता है। इस प्रकार चित्त की पाँच भूमियों में प्रथम तीन क्षिप्त, मूढ़ और विक्षिप्त भोग की और अन्तिम दो एकाग्र और निरुद्ध मुक्त की भूमियाँ हैं।

भोग से योग अर्थात् दुःख से दुःख रहित अवस्था तक की यात्रा को पूर्ण करने के लिए योगसूत्र में वर्णित विभिन्न साधना पद्धतियों में चित्तप्रसादन एक प्रमुख, सरल और अति व्यावहारिक उपाय है। इस साधना पद्धति के विषय में महर्षि पतंजलि कहते हैं : "सुखी, दुःखी, पुण्यवान् तथा अपुण्यवान प्राणियों में यथाक्रम मैत्री, करुणा, मुदिता तथा उपेक्षा की भावना करने पर चित्तप्रसादन होता है।"[1] अतः समाज के समस्त मनुष्यों या व्यवहार में आने वाले सभी प्राणियों को चार वर्गों में विभक्त करते हुए प्रत्येक वर्ग के साथ एक सुनिश्चित प्रकार की भावना करने के अभ्यास का परामर्श इस साधना पद्धति में दिया गया है। इन चार प्रकार की भावनाओं के अभ्यास द्वारा धीरे-धीरे चित्त का मल अर्थात् पंचक्लेशादि दूर हो जाते हैं और ऐसा चित्त दुःखों से मुक्ति का हेतु होकर योग की अवस्था को प्रदान कराने वाला हो जाता है। अतएव सर्वप्रथम चित्त क्या है, इसे समझना यहाँ प्रासंगिक होगा।

चित्त -

सांख्य एवं योग दोनों सम्प्रदायों के अनुसार प्रकृति एवं पुरुष के संयोग से ही सृष्टि का विकास होता है, जिसके परिणाम स्वरुप महत् से लेकर पंचमहाभूतों तक के तत्त्वों की उत्पत्ति होती है। व्यक्त प्रकृति के तत्त्वों में बुद्धि, अहंकार, मन और दसों इन्द्रियाँ इन 13 तत्त्वों के समुदाय के नाम करण है। इन करणों के दो-अन्तःकरण और बाह्यकरण विभाग हैं। इनमें बुद्धि, अहंकार और मन के समुदाय का नाम अन्तःकरण तथा दसों इन्द्रियों के समुदाय का नाम बाह्यकरण है। बाह्यकरण मात्र वर्तमान विषयक जबकि अन्तःकरण त्रिकाल विषयक अर्थात् भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालों के विषयों को ग्रहण करने वाला होता है।[2] अन्तःकरण अर्थात् व्यक्त प्रकृति के इन्हीं तीनों (बुद्धि, अहंकार और मन) तत्त्वों के समुदाय का नाम चित्त[3] है, और इसमें होने वाले वृत्ति रूपी व्यापार का कारण इन्हीं 13 करणों का समुदाय अर्थात् करण हैं। योगसूत्र के अनुसार

मध्य भारती-71, जुलाई-दिसम्बर, 2016, ISSN 0974-0066, *pp. 145-150*

Scanned by CamScanner

चित्त-वृत्तियों के दो भेद- क्लिष्ट और अक्लिष्ट[4] अर्थात् दुःख देने वाली और दुःख निवृत्ति करने वाली हैं। अविद्यादि पंच क्लेश ही दुःख देने वाली वृत्तियाँ, चित्त का मैल और दुःख की हेतु होती हैं। यौगिक साधनाओं के अनुष्ठान से जब चित्त इन वृत्तियों से रहित हो जाता है तो अक्लिष्ट वृत्ति उत्पन्न होती है। इस प्रकार जो वृत्तियाँ जन्म एवं कर्मबन्धन की हेतु है, वे क्लिष्ट वृत्तियाँ और जो इन क्लिष्ट वृत्तियों को संस्कार सहित नष्ट करने में हेतु है, वे अक्लिष्ट वृत्तियाँ कहलाती हैं। अतः विवेकख्याति रूपी वृत्ति जो देहाभिमान की विरोधनी है वही अक्लिष्ट[5] वृत्ति है। विवेकख्याति रूपी वृत्ति के संस्कार एवं इसके संस्कार से वृत्ति का चक्र जब प्रारम्भ होता है तब क्लिष्ट रूपी वृत्ति के संस्कारों का प्रतिबन्ध होता है। स्वामी हरिहरानन्द आरण्य के अनुसार अक्लिष्ट वृत्तियों के भी दो- मुख्य एवं गौण भेद हैं। इनके अनुसार विवेकख्याति मुख्य अक्लिष्ट वृत्ति और जिन साधनों के अभ्यास से क्लिष्ट वृत्ति क्षीण और विवेकख्यातिरूपी मुख्य अक्लिष्ट की उत्पन्न होती है वे सब गौण अक्लिष्ट वृत्तियाँ हैं।[6] अतः चित्त प्रसादन के मैत्रीकरुणादि अभ्यास की प्रवृत्ति भी गौण अक्लिष्ट वृत्तियाँ हैं।

इस प्रकार योगमत में चित्त की जो पाँच (क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध) भूमियाँ मानी गयी है, उन्हें तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है -

1. दुःख या भोग की अवस्था - इसके अन्तर्गत प्रथम तीनों भूमियाँ आती हैं क्योंकि ये तीनों भूमियाँ क्रमशः रजोगुण, तमोगुण और सतोगुण प्रधान होते हुए भी प्रत्येक गुण में अन्य दोनों गुणों को दबाकर प्रबल होने की योग्यता रहती है। इन भूमियों में पुरुष त्रिगुणों के धर्मो (दुःख, मोह और सुख) को अपने में आरोपित कर दुःख, सुख आदि को भोगता है। सांख्य-योग मत में प्रकृति के धर्मो का अपने में अरोपण करना ही भोग अर्थात् दुःख है।

2. योग की अवस्था : इसके दो वर्ग है -

(अ) जीवन मुक्ति या दुःख रहित अवस्था - इसके अन्तर्गत चित्त की चौथी अर्थात् एकाग्रावस्था आती है। चित्त की इस भूमि में सतोगुण की प्रबलता इतनी अधिक होती है की तमोगुण एवं रजोगुण इसके ऊपर कभी हावी नहीं होते अर्थात् तमोगुण और रजोगुण में सतोगुण को अभिभूत (दबाने) की योग्यता नहीं रहती है। चित्त की इस भूमि में रजोगुण और तमोगुण अपने-अपने धर्म को प्रकट नहीं कर पाते वे मात्र सतोगुण की सहायता करते हैं। अर्थात् इस भूमि का चित्त सतोगुण से प्रबल, दुःख रहित और स्थिर अर्थात् एकाग्र होता है।

(ब) प्रकृति-पुरुष वियोग या विदेह मुक्ति अवस्था - यह चित्त की अव्यक्त प्रकृति में विलय की अवस्था है, क्योंकि इस अवस्था में चित्त वृत्तियों से रहित होता जाता है, और विज्ञानभिक्षु के मत में चित्तवृत्ति का अर्थ है-समस्त ज्ञान रूपी अवस्थाएं और इन वृत्तियों के अभाव का अर्थ है चित्त का प्रधान में विलय हो जाना। क्योंकि वृत्तियाँ ही चित्त का जीवन है।[7] इस प्रकार निरुद्ध भूमि का अर्थ है चित्त का समस्त वृत्तियों से रहित होकर अव्यक्त प्रकृति में लीन हो जाना। यही प्रकृति पुरुष का वियोग, असम्प्रज्ञात समाधि, कैवल्य की प्राप्ति और दुःखों की अत्यान्तिक निवृत्ति है।

चित्तप्रसादन -

चित्तप्रसादन का तात्पर्य चित्त को शुद्ध करने से है। मैत्रीकरुणादि के अभ्यास के फल को बताते हुए व्यासभाष्य में कहा गया है: "इस प्रकार की भावना करने वाले साधक में 'शुक्लधर्म' का उदय होता है। शुक्लधर्म के उदय होने से चित्त प्रसन्न होता है और प्रसन्न हुआ चित्त एकाग्र होता हुआ स्थिरता को प्राप्त होता है।"[8] उपरोक्त व्याख्या से चित्तप्रसादन की तीन विशेषताएं स्पष्ट होती है -

1. शुक्ल अर्थात् सतोगुण की प्रबलता होती है, अर्थात् इस अवस्था में रजोगुण और तमोगुण न तो प्रबल होता है और न ही उसके धर्मों की अभिव्यक्ति होती है।
2. सतोगुण की प्रबलता से चित्त में प्रसन्नता होती है, क्योंकि यहाँ दुःख देने वाली क्लिष्ट वृत्तियों का नाश हो जाता है और सुख को देने वाली अक्लिष्ट वृत्तियाँ विद्यमान रहती है।

Scanned by CamScanner

3. प्रसन्न हुआ चित्त एकाग्र अर्थात् स्थिर हो जाता है, क्योंकि चित्त की चंचलता का कारण रजोगुण प्रबल नहीं हो पाता।

इस प्रकार चित्तप्रसादन की उपरोक्त व्याख्या योग की प्रथम अवस्था अर्थात् एकाग्रभूमि के लक्षणों में व्यक्त होती है। अतः चित्त प्रसादन का अर्थ चित्त की एकाग्रभूमि है। वाचस्पतिमिश्र चित्तप्रसादन की व्याख्या में कहते हैं : "इस प्रकार चतुष्कोणीय भावना करने से योगी के चित्त में राजस और तामस धर्म निवृत्ति हो जाते हैं अर्थात् चित्त में कालुष्यपूर्ण वृत्तियों का उदय नहीं होता है और सात्त्विक 'शुक्लधर्म' विचार उदित होता है। योगी सतोगुण के आधिक्य से सम्पन्न हो जाता है। प्रसादस्वभाव के कारण योगी का चित्त वृत्ति निरोध करने में प्रसन्न होता है और प्रसन्नता को प्राप्त हुआ चित्त वक्ष्यमाण उपायों से एकाग्र होता हुआ 'स्थितिपद' को प्राप्त करता है।"[9]

चित्त राजस और तामस धर्म से निवृत्ति हो जाता है का यह अर्थ नहीं समझना चाहिए कि चित्त इन गुणों से रहित हो जाता है। सांख्य-योग मत में प्रकृति एवं इससे उत्पन्न समस्त पदार्थ त्रिगुणात्मक है, अर्थात् त्रिगुणों के बिना किसी भी पदार्थ की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। जब इन तीनों गुणों में समानता रहती है, तो प्रकृति अव्यक्तावस्था में रहती है और जब इनमें विषमता होती है तो सृष्टि का विकास होता है।

सांख्यदर्शन के अनुसार प्रकृति के इन त्रिगुणों में परस्पर चार (अभिभव, आश्रय, जनन और सहचार) प्रकार के व्यवसाय पाते जाते हैं।[10] इनमें अभिभव का अर्थ यह है कि प्रत्येक गुण में अन्य दोनों गुणों को अभिभूत करने अर्थात् दबाने की क्षमता होती है। आश्रय का अर्थ प्रत्येक गुण अपने धर्म को प्रकट करने में अन्यदोनों की सहायता लेता है अर्थात् प्रबल हुए गुण की अन्य दोनों गुण उसे उसके धर्म के प्रकटन में सहायता प्रदान करते हैं। जनन का अर्थ-ये एक दूसरे को उत्पन्न करते हैं। अतः यहाँ जनन का तात्पर्य 'परिणाम' से है। गुणों का यह परिणाम सरूप परिणाम है और इसी के कारण इन त्रिगुणों को नित्य माना जाता है क्योंकि ये किसी हेतु से उत्पन्न नहीं होते।[11] परस्पर मिथुन का अर्थ एक दूसरे में समव्याप्त रहने से है, अर्थात् ये एक दूसरे के अभाव में न रहने वाले हैं।[12] सहचर का अर्थ ये तीनों गुण परस्पर साथ-साथ रहते हैं अर्थात् प्रत्येक कार्यों के कारण रूप में रहते हैं। रज का सहचर सत् है और सत् का सहचर रज, तथा सत् और रज दोनों का सहचर तम् है।

अतः यहाँ पर चित्त का राजस और तामस धर्म से निवृत्ति हो जाने का अर्थ रजोगुण और तमोगुण में जो सतोगुण को अभिभूत करने की क्षमता थी, उसका न रह जाना है। चित्त की प्रथम तीनों भूमियों में त्रिगुणों में उपरोक्त चारों धर्म पाये जाते हैं परन्तु एकाग्र भूमि में अभिभूत करने की क्षमता मात्र सतोगुण में ही रहती है, और रजोगुण तथा तमोगुण, सतोगुण को अभिभूत करने की सामर्थ्य से रहित हो जाते हैं।

विज्ञानभिक्षु के मत में चित्तप्रसादन का अर्थ - "जलादि से होने वाली शरीर तथा वस्त्रादिगत शुद्धि की भाँति समाधि को अवरुद्ध करने वाले राग, द्वेष, अधर्मादि मल की निवृत्ति को प्रसादन कहते है।"[13] अतः चित्तप्रसादन का अर्थ चित्त के मल राग-द्वेषादि की निवृत्ति से है, क्योंकि ये राग-द्वेषादि ही समाधि को रोकने वाले हैं। चित्तप्रसादन की व्याख्या में विज्ञानभिक्षु कहते है - "मैं इत्यादि भावना से होने वाले चित्त प्रसादन में शुक्लधर्म को अदृष्टद्वार बतलाया गया है तथा शुक्लधर्म से राग-द्वेष की निवृत्ति होने पर उसमें दृष्टद्वारकत्व भी है, ऐसा समझना चाहिये। जैसा कि गीता में कहा गया है - 'रागद्वेष.....पर्यवतिष्ठते' 2.64-65 अर्थात् स्वाधीन अन्तःकरण वाला पुरुष राग-द्वेष से रहित अपने वश में की हुई इन्द्रियों द्वारा विषयों को भोगता हुआ अन्तःकरण की प्रसन्नता अर्थात् स्वच्छता को प्राप्त होता है। तदन्तर उस प्रसन्न चित्त वाले पुरुष की बुद्धि शीघ्र ही अच्छी प्रकार से स्थिर हो जाती है।"[14]

विज्ञानभिक्षु ने चित्तप्रसादन के लक्षणों को गीता से सिद्ध करते हुए इसकी तुलना गीता के उस पुरुष से किया है जिसका अन्तःकरण वश में है। किस पुरुष का अन्तःकरण वश में है? जिसका चित्त राग-द्वेष से

Scanned by CamScanner

रहित है। राग-द्वेष को ही चित्त का मल कहा गया है और जिसका चित्त इस राग-द्वेष रूपी मल से रहित हो जाता है, उसका चित्त विषय विषयक न होकर आत्मविषयक होता है। विषय विषयक चित्त कभी स्थिर और दुःख निवृत्ति का हेतु नहीं बन सकता।

इस प्रकार चित्त प्रसादन का तात्पर्य चित्त की उस भूमि से है जिसमें पंचक्लेशों का अभाव रहता है। यद्यपि ऐसा चित्त भी त्रिगुणों से ही निर्मित रहता है परन्तु इन तीन गुणों में मात्र सतोगुण में ही अन्य दोनों गुणों को अभिभूत करने की क्षमता रहती है, रजोगुण एवं तमोगुण में नहीं। अर्थात् रजोगुण और तमोगुण में प्रबल होने की क्षमता न होने के कारण इनके धर्म राग-द्वेषादि का अविर्भाव नहीं हो पाता। ऐसा चित्त राग-द्वेषादि से रहित होने के कारण निर्मल, दुःख रहित और सुख देने वाला तथा स्थिर स्वभाव वाला होता है। योगमत में चित्त की यह अवस्था एकाग्रभूमि के नाम से भी जानी जाती है।

चित्तप्रसादन के साधन - योगसूत्र में चित्त प्रसादन के लिए चार (मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा) प्रकार की भावनाओं को क्रमशः सुखी, दुःखी, पुण्यात्मा और पापात्मा के प्रति रखने का परामर्श दिया गया है। यहाँ मनुष्य को चार-सुखी, दुःखी, पुण्यात्मा और पापात्मा वर्गों में विभक्त करते हुए प्रत्येक वर्ग विशेष के साथ एक सुनिश्चित प्रकार की भावना का अभ्यास करने की बात कही गयी है।

श्रीविज्ञानभिक्षु सूत्र में आये 'सुखादि' और 'भावना' शब्द के अर्थ को स्पष्ट करते हुए कहते हैं : "सुखादि शब्द का प्रयोग धर्म-धर्मी में अभेद विवक्षित होने से सुख-दुःखादि धर्म के आधिक्य के द्योतनार्थ किया गया है। इस प्रकार धर्मभूत 'सुखादि' धर्मीभूत सुखित्वड (सुखी व्यक्ति) आदि का वाचक है। सूत्र में प्रयुक्त 'भावना' शब्द का अर्थ 'उत्पत्ति' जैसे- सुखशील प्राणियों में मैत्रीभाव को प्रदुर्भूत करें, इत्यादि।"[15]

इस प्रकार सुख, दुःख, पुण्य और अपुण्य का तात्पर्य इन धर्मों को धारण करने वाला अर्थात् सुखी, दुःखी, पुण्यवान और पापवान मनुष्य है। भावना का अर्थ उत्पत्ति अर्थात् किसी वस्तु का उत्पन्न होना या उसका प्रादुर्भाव होना है। अतः सूत्र का अर्थ यह हुआ कि सुखी, दुःखी आदि व्यक्तियों में मैत्री, करुणा आदि को उत्पन्न करने से चित्त का मल दूर होता है।

मैत्री -

'मैत्री' शब्द का अर्थ सौहार्द[16] अर्थात् स्नेह युक्त व्यवहार है। सुखी मनुष्य के प्रति मैत्री अर्थात् सौहार्द की भावना करने के लाभ को वाचस्पति मिश्र बताते हुए कहते हैः "सुखी व्यक्तियों के प्रति मैत्री अर्थात् स्नेह-सौहार्द की भावना करने से चित्त का ईर्ष्यारूप मालिन्य दूर होता जाता है अर्थात् सुखी व्यक्ति को देखकर उसके प्रति ईर्ष्यालुभाव अर्थात् असहिष्णुता मन में उत्पन्न नहीं होती है।"[17]

सामान्य मनुष्य के चित्त में सुखी मनुष्य को देखने से ईर्ष्या रूपी भाव ही उत्पन्न होता है, जो सदैव कष्टकारी ही होता है। अतः सुखी व्यक्ति के प्रति मैत्री भाव न रखने से चित्त में ईर्ष्यारूपी मल और बढ़ता जायेगा जो योग से दूर भोग अर्थात् दुःख को देने वाला होगा। अतः प्रत्येक योग साधक को सुखी व्यक्ति के प्रति मैत्रीभाव का अभ्यास करना चाहिए।

करुणा -

'करुणा' शब्द के अर्थ को स्पष्ट करते हुए विज्ञानभिक्षु कहते हैः "दूसरों के दुःख को दूर करने की इच्छा का नाम 'करुणा' है।"[18] अर्थात् दुःखी मनुष्यों को देख कर जैसे अपने दुःख को दूर करने का प्रयास करते है वैसे ही उस दुःखी मनुष्य के दुःख को दूर करने का प्रयास करना चाहिए। दुःखी मनुष्य के प्रति करुणा उत्पन्न करने के लाभ को बताते हुए वाचस्पति मिश्र कहते हैः "दुःखी व्यक्तियों के प्रति करुणा अर्थात् अपने समान दुःख नाश की भावना करने से दूसरों को क्षति पहुँचाने की इच्छारूप कालुष्य चित्त से निवृत्ति हो जाता है।"[19] अतः करुणा का अर्थ दुःखी मनुष्यों के दुःखों को अपने समान समझते हुए उसे दूर करने की इच्छा है। ऐसा करने से दूसरों को क्षति पहुँचाने की इच्छारूपी मैल जो चित्त में रहता है, वह दूर हो जाता है।

Scanned by CamScanner

मुदिता -

मुदिता के अर्थ और इसके लाभ को बताते हुए वाचस्पतिमिश्र कहते हैः "पुण्यशील अर्थात् धर्मपरायण प्राणियों के प्रति 'मुदिता' अर्थात् प्रसन्नता की भावना करने से चित्त से परनिन्दारूप कालुष्य दूर हो जाता है।"[20] अतः मुदिता का अर्थ प्रसन्नता है और इसका प्रादुर्भाव पुण्यात्मा के प्रति करना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से दूसरों की निन्दा करने वाला दोष चित्त से दूर हो जाता है।

उपेक्षा -

उपेक्षा का प्रादुर्भाव अपुण्य अर्थात् पापशील आत्मा के प्रति करने से प्राप्त होने वाले लाभ को बताते हुए तत्ववैशारदी में कहा गया हैः "पापशील अर्थात् दुष्ट प्रकृति के पुरुषों के प्रति उपेक्षा अर्थात् माध्यस्थ्य (औदासीन) की भावना करने से चित्त का अमर्ष (क्रोध) रूप कालुष्य दूर हो जाता है।"[21]

इस प्रकार चतुष्यकोणीय भावना करने से साधक के चित्त से राजस और तामस धर्म की निवृत्ति हो जाती है, क्योंकि चित्तप्रसादन के चारों साधनों से अर्थात् मैत्री से ईर्ष्या, करुणा से दूसरों को कष्ट पहुँचाने की इच्छा अर्थात् हिंसा भाव, मुदिता से परनिन्दा और उपेक्षा से क्रोध आदि चित्त मलों की निवृत्ति हो जाती हैं, और ये सभी मल राजस और तामस गुणों की प्रबलता से ही उत्पन्न होते हैं। अतः चित्त प्रसादन के चारों साधनों के अभ्यास से चित्त सतोगुण प्रधान होकर दुःख से रहित और एकाग्रभूमि वाला हो जाता है।

चित्तप्रसादन के साधनों की प्रासंगिकता -

योगसूत्र में जिन चार प्रकार की भावनाओं से चित्त की शुद्धि होती है, वे समस्त भावनाएं प्रत्येक मनुष्य रखता है। परन्तु वे भावनायें जिनके प्रति करने का परामर्श योगसूत्र में दिया जा गया है, मनुष्य उनके प्रति नहीं कर पाता। उदाहरण के लिए देखें तो अधिकतर मनुष्य सौहार्द अर्थात् मैत्री की भावना अपने पुत्र-स्त्री आदि के प्रति करता है, जबकि योगमत में इस भावना को प्रत्येक सुखी मनुष्य के प्रति उत्पन्न करने का परामर्श दिया गया है। ऐसा क्यों? यदि हम जरा भी विचार करे तो पायेंगे हमारे मन मस्तिष्क में स्वार्थपरता किस हद तक घर कर गयी है। मनुष्य अपने दुःख से उतना दुःखी नहीं है जितना कि दूसरों के सुख से और हम अपने सुख में उतना सुखी भी नहीं हो पाते जितना की दूसरों के दुःख में हमें प्रसन्नता होती है।

आज मनुष्यों के दुःख का कारण चित्त प्रसादन के चारों भावों को सही स्थान या सही व्यक्ति के प्रति न उत्पन्न करने के कारण है। किसी भी मनुष्य के दुःख में दुःखी होने वाला मनुष्य उसका सबसे बढ़ा आत्मीय हो जाता है, साथ ही जब कोई मनुष्य किसी अन्य मनुष्य की खुशियों में दुःखी या दुःख में सुखी होता है, तो वह मनुष्य प्रथम मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु हो जाता है।

योगशास्त्र की कितनी बढ़ी विशेषता और समाज के लिए अनुपम देन है कि यह मानव मात्र को यह शिक्षा देता है कि जिसे दुःखों से मुक्ति चाहिये, वह दूसरों के दुःख को अपना दुःख समझे, दूसरों के दुःख में दुःखी हो और इतना ही नहीं बल्कि उस दुःखी मनुष्य को दुःखों से मुक्ति दिलाने के लिए प्रयास अर्थात् उसकी सहायता भी करें। जो ऐसा नहीं करता अर्थात् मात्र अपने दुःखों को ही महत्व देता है और दूसरों के दुःखों से कोई लेना-देना नहीं रखता योग मत में वह दुःखों के दलदल में और फँसता चला जाता है। इस प्रकार समाज को एक सूत्र में बाँधने और व्यक्तिगत प्रगति के स्थान पर सामूहिक प्रगति का परामर्श चित्तप्रसादन का अभ्यास देता है। चित्तप्रसादन का अभ्यास एक और महत्वपूर्ण शिक्षा देता है कि किसी को दुःख देकर प्राप्त किया गया सुख भी दुःख का हेतु है। अतः किसी को कष्ट देकर सुख की प्राप्ति नहीं करनी चाहिए।

अब जरा विचार कीजिये, आज राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय दोनों स्तरों पर असुरक्षा (आतंकवाद, महिला असुरक्षा, वरिष्ठनागरिकों की असुरक्षा आदि) की कितनी बड़ी समस्या हैं। यदि योगसूत्र के इस चित्तप्रसादन का अनुष्ठान कोई भी समाज प्रारम्भ करे तो उस समाज के लोगों को समाधि कब प्राप्त होगी यह

Scanned by CamScanner

तो मैं नहीं कह सकता परन्तु उस समाज में एक दूसरे के प्रति प्यार, भाईचारा, सामूहिक और व्यक्तिगत दोनों प्रकार के दुःखों को हँसते-हँसते सहन करने की क्षमता, एक दूसरे के प्रति सुरक्षा, विश्वास आदि की भावना अतिशीर्ष दिखाई पड़ने लगेगी। मेरे मतानुसार यदि मनुष्य चित्तप्रसादन के उपरोक्त चार प्रकारों में मात्र एक दुःखी व्यक्ति के साथ करुणा की भावना का ही प्रादुर्भाव करने लगे तो भी समाज की समस्याओं का एक बड़े स्तर पर समाधान हो जायेगा।

इस प्रकार योगसूत्र में चित्तप्रसादन अर्थात् चित्त को पंचक्लेशों से रहित करने के लिये योगसाधक समाज के अन्य लोगों के प्रति कैसा व्यवहार करें, इसका बहुत व्यवहारिक और कुशल परामर्श दिया गया है। चित्त प्रसादन का साधन लौकिक और पारलौकिक दोनों स्तरों पर लाभकारी है। अतः जो लोग पारलौकिक अर्थात् मृत्यु के बाद का जीवन, पुर्नजन्म कर्मफल आदि का नहीं मानते उनके लिए भी ये साधन लाभकारी होंगे, क्योंकि जीवन में सभी लोग सुख, शान्ति, सुरक्षा आदि के साथ जीना चाहते हैं।

शोधछात्र, दर्शनशास्त्र विभाग,
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

सन्दर्भ -

1. *मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातचित्तप्रसादनम्। योगसूत्र 1.33*
2. *अन्तःकरणं त्रिविधं दशधा बाह्यं त्रयस्य विषयाख्यम्। साम्प्रतकालं बाह्यं त्रिकालमाभ्यन्तरं करणम्।। सांख्यकारिका 33*
3. *BKS IYENGAR, The Illustrated Light on Yoga, Harper Collins Publishers, New Delhi, 1997, Page-2.*
4. *वृत्तयः पंचतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः। योगसूत्र 1.5*
5. *ख्यातिविषया गुणाधिकारविरोधिन्योऽक्लिष्टाः। व्यासभाष्य 1.5*
6. *स्वामी हरिहरानन्द आरण्य, पातंजल योगदर्शन, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1987, पेज-17।*
7. *प्रमाणादिलक्षणव्यापारैः चित्तं जीवति। योगवार्तिक 1.5*
8. *एवमस्य भावयतः शुक्लो धर्म उपजायते। ततश्च चित्तं प्रसीदति प्रसन्नमेकाग्रं स्थितिपदं लभते। व्यासभाष्य 1.33*
9. *ततश्चास्य राजसतामसधर्मनिवृत्तौ सात्त्विकः शुक्लो धर्म उपजायते। सत्वोत्कर्षसंपन्नः सम्भवति, वृत्तिनिरोधपक्षे तस्य प्रसादस्वाभाव्याच्चित्तं प्रसीदति। प्रसन्नं च वक्ष्यमाणेभ्य उपायेभ्य एकाग्रं स्थितिपदं लभते। तत्त्ववैशारदी 1.33*
10. *प्रयोजनमुक्त्वा क्रियामाह- ''अन्योन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तश्च'' इति। सांख्यतत्त्वकौमुदी 12.8*
11. *जननं च परिणामः, स च गुणानां सदृशरूपः। अत एव न हेतुमत्त्वम्, तत्त्वान्तरस्य हेतोरसम्भवात्; नाप्यनित्वम्, तत्त्वान्तरे लयाभावात्। सांख्यतत्त्वकौमुदी 12.11*
12. *अन्योन्यमिथुनवृत्तयः । अन्योन्यसहचराः, अविनाभाववृत्तय इति यावत्। सांख्यतत्त्वकौमुदी 12.12*
13. *प्रसादनं समाधिप्रतिबन्धकरागद्वेषाधर्मादिमलापसारणं तोयादिप्रसादवदित्यर्थः। योगवार्तिक 1.33*
14. *इतस्तमःक्षये चित्तं निर्मलं भवतीत्यर्थः। अदृष्टद्वारकत्वं चैतन्मख्यत उक्तम्, रागद्वेषनिवृत्तिरूपदृष्टद्वारकत्वमपि बोध्यम्। तदुक्तं गीतायाम्- रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्। आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति। प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः परिवितिष्ठते। इति। योगवार्तिक 1.33*
15. *अत्र सुखादिशब्दस्तद्बाहुल्यलाभाय धर्मधर्म्यभेदात् सुखित्ववाची, भावना चोत्पादनं। योगवार्तिक 1.33*
16. *मैत्री सौहार्दं । योगवार्तिक 1.33*
17. *सुखितेषु मैत्री सौहार्दं भावयतः परापकारचिकीर्षाकलुष्यं चेतसो निवर्तते। तत्त्ववैशारदी 1.33*
18. *करुणां निरुपधिपरदुःखप्रहरणेच्छां। योगवार्तिक 1.33*
19. *दुःखितेषु च करुणामात्मनीव परस्मिन्दुःखप्रहाणेच्छां भावयतः परापकारचिकीर्षाकालुष्यं चेतसो निवर्तते। तत्त्ववैशारदी 1.33*
20. *पुण्यशीलेषु प्राणिषु मुदितां हर्षं भावयतोऽसूयाकालुष्यं चेतसो निवर्तते। तत्त्ववैशारदी 1.33*
21. *अपुण्यशीलेषु चोपेक्षां माध्यस्थ्यं भावयतोऽमर्षकालुष्यं चेतसो निवर्तते। तत्त्ववैशारदी 1.33*

Scanned by CamScanner